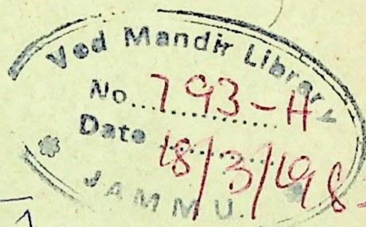
र्पण-योग
301

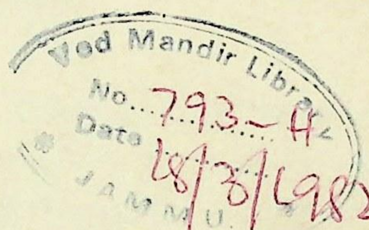
आत्मसमर्पण-योग





केशवदेव आचार्य

आत्मसमर्पण-योग



केशवदेव आचार्य

प्रकाशक :
दिव्य जीवन साहित्य प्रकाशन
पांडीचेरी–२

१५ अगस्त १९७२

द्वितीय संस्करण

मुद्रक—ऋतानन्द प्रेस, (बंसल सिनेमा के सामने) मेरठ कैन्ट

प्रस्तावना

भगवान् की प्राप्ति के अनेक मार्ग योगियों ने बतलाये हैं जिनमें मुख्य हैं हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, तन्त्रयोग, अध्यात्म-योग इत्यादि। यथोचित रूप में अनुष्ठित होने पर निःसन्देह इन सभी के द्वारा मानव आत्मा भगवान् को, ब्रह्म को अथवा दूसरे शब्दों में स्वयं अपने दिव्य भाव को प्राप्त कर सकता है। परन्तु आत्मा के साथ प्रकृति भी जुड़ी हुई है। अनेक योगों में इसे अज्ञानमयी, दुःखमयी, मिथ्या माया मानकर इसका सर्वथा परित्याग करना, इससे सदा के लिये पृथक् हो जाना ही लक्ष्य रहता है। परन्तु यदि वेद और उपनिषदों के अनुसार यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का आविर्भाव है तो जैसे मानव आत्मा ब्रह्म (अयमात्मा ब्रह्म) है और वह फिर अपने ब्रह्मभाव को प्राप्त कर सकता है (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति), तो यह प्रकृति भी ब्रह्म है (अन्नं ब्रह्म, प्राणो ब्रह्म, मनोब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, पुरुष एवेदं सर्वम्) और इसे भी ब्रह्मभाव, इसका अपना दिव्य भाव प्राप्त होना चाहिये। अतः यदि मनुष्य केवल आत्मा के दिव्य भाव को प्राप्त करता है और प्रकृति के दिव्य भाव को प्राप्त नहीं करता तो उसका इस संसार में आने का उद्देश्य पूरा नहीं होता। प्राचीन यौगिक साहित्य में प्रकृति के दिव्य भाव की चर्चा कहीं कहीं मिलती तो अवश्य है किन्तु इसके फलितार्थ पर पूरी तरह न विचार किया गया है और न इसे योग का लक्ष्य ही बनाया गया है। वर्तमान युग के महायोगी

श्री अरविन्द ने इस दिव्य भाव का सविस्तर प्रतिपादन किया है और इसे अपने योग का मुख्य लक्ष्य निर्धारित किया है।

प्रकृति का यह दिव्य भाव, दिव्य रूपान्तर मनुष्य अपने मानव प्रयत्न से सम्पन्न नहीं कर सकता। यह भगवान् की दिव्य शक्ति, अतिमानस शक्ति से ही सम्पन्न हो सकता है और अतिमानस शक्ति तभी क्रिया कर सकती है जबकि मनुष्य उस क्रिया के प्रति आत्म-समर्पण करे और अपने अहंकार आदि से उसमें बाधा न पहुँचाये।

वास्तव में मनुष्य ब्रह्म ही है (अहं ब्रह्मास्मि)। उसे ब्रह्म से भिन्न करने वाला उसका अहंकार है। अहंकार ही वह तत्त्व है जो आत्मा को प्रकृति के साथ बाँधता है। इसे ही चिदचिद्-ग्रन्थि भी कहा जाता है। जिस योग में जितनी शीघ्रता से इस ग्रन्थि को खोला जाता है, अहंकार का त्याग किया जाता है वह उतनी ही तीव्र गति से भगवान् के समीप ले जाता है। दूसरे योगों में अहंकार का त्याग पीछे से होता है, अनेकों में तो अहंकार पहले बढ़ता है। आत्म-समर्पण योग का प्रारम्भ ही अहंकार के त्याग से होता है। इसमें आत्मा और प्रकृति के मूल बंधन को खोलने का प्रारम्भ से ही प्रयास किया जाता है और उसमें भगवान् की दिव्य-शक्ति की सहायता ली जाती है। अतः यह योग दूसरे योगों की अपेक्षा अधिक तीव्र वेग से भगवान् के समीप ले जाता है और आत्मा और प्रकृति दोनों के दिव्य भाव को प्राप्त कराने में सहायक होता है।

गीता में प्रकृति के दिव्य भाव का सविस्तर प्रतिपादन न होने पर भी 'मद्भाव' 'ममसाधर्म्य' आदि वचनों में संकेत अवश्य है और उसने जिस योग को प्रधानता दी है वह आत्म-समर्पण योग ही है। और यह योग भली-भांति

अनुष्ठित होने पर न केवल आत्मा के अपितु प्रकृति के दिव्य भाव (मद्भाव) को भी प्राप्त करा सकता है।

इसके अतिरिक्त, युग परिवर्तन के साथ-साथ मानव प्रकृति में भी परिवर्तन हो गया है। पहले समय में मानव देह में जड़ता अधिक थी इसलिये कठोर स्थूल शारीरिक क्रियाओं के द्वारा मन को संयत करने का यत्न किया जाता था। वर्तमान समय में प्राण और मन का अधिकार शरीर पर अधिक है। हमारे शरीर अब पहले की अपेक्षा अधिक संवेदनशील हैं। इसके अतिरिक्त, पृथ्वी पर पहले की अपेक्षा अधिक मानसिक शक्ति अवतीर्ण हो गई है और उसका प्रभाव शरीर पर भी है। भौतिक विज्ञान की ये गवेषणायें मानसिक शक्ति का ही तो पृथ्वी पर अवतरण हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ समय (१९५६) से यहाँ अतिमानस शक्ति का भी अवतरण हो गया है और वह मनुष्य के दिव्य रूपान्तर के लिये क्रिया कर रही है। इस शक्ति की क्रिया की तुलना में दूसरे योग ऐसे हैं जैसे परम पावनी भागीरथी के अभाव में मनुष्य का कुआँ खोदना और स्नान करना एवं जल पान करना। परन्तु जब भागीरथी की परम पावनी शीतल धारा बहती हो तो तब इतना ही आवश्यक है कि मनुष्य में इसके लिये पिपासा हो और वह इस धारा में अपने आपको डाल दे और उसे अपने मल को धो डालने दे और ताप को शीतलता में परिणत करने दे। इसी प्रकार अपने दिव्य रूपान्तर के लिये भी यह आवश्यक है कि मनुष्य के भीतर अभीप्सा हो और वह अपने आपको, अपने शरीर, प्राण, मन बुद्धि आदि को भगवान् की इस दिव्य शक्ति के अर्पण कर दे और जैसे-जैसे वह क्रिया करे उसे निर्बाध रूप में होने दे। इसे ही आत्म-समर्पण-योग कहते हैं।

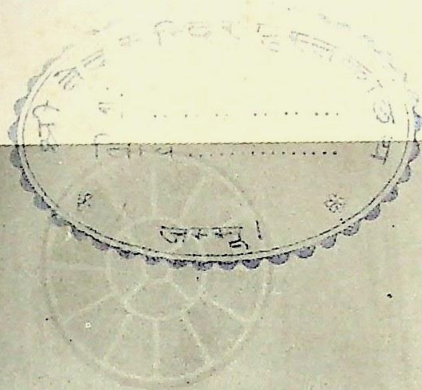
परन्तु यहाँ समस्यायें उपस्थित होती हैं कि किसे आत्मसमर्पण किया

जाव, किसका समर्पण हो, कैसे इसे प्रारम्भ किया जाय और किस क्रम में इसे आगे बढ़ाया जाय इत्यादि। इन समस्याओं के संक्षेप में सुलझाने के लिये यह छोटी सी पुस्तिका लिखी जाती है। इसमें गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों के वचनों के साथ-साथ श्री अरविन्द और माता जी के 'हमारा योग और उसके उद्देश्य', 'माता', 'योग-समन्वय', 'मातृवाणी' आदि ग्रन्थों के अनेक महत्त्वपूर्ण वचन एक विशेष क्रम में उद्धृत किये गये हैं। आशा है इससे श्री अरविन्द के दिव्य रूपान्तर योग के समझने और उसकी साधना में हिन्दी के पाठकों को सहायता मिलेगी।

—केशव देव आचार्य

विषय-सूची

—:०:—



श्री माताजी

श्री अरविंद

❀ आत्म समर्पण योग ❀

श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य है मानव जीवन का दिव्य रूपान्तर—शरीर, प्राण, इन्द्रियों, मन और बुद्धि का और इनकी सम्पूर्ण क्रियाओं का दिव्य रूपान्तर। मानव अंगों का और उनकी क्रियाओं का यह दिव्य रूपान्तर मनुष्य अपने प्रयत्न से सम्पन्न नहीं कर सकता, इसके लिये आवश्यकता है भगवान् की दिव्य शक्ति की क्रिया की। और भगवान की शक्ति तभी स्पष्टतया क्रिया कर सकती है जबकि साधक भगवान् के प्रति और उनकी इस क्रिया के प्रति पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करे। परन्तु पूर्ण आत्मसमर्पण एक साथ सम्भव नहीं होता। यह धीरे-धीरे क्रमिक भूमिकाओं में से होता हुआ आगे बढ़ता है।

किसी भी योग के अनुष्ठान के लिए सबसे पहली आवश्यकता है भीतरी जागृति। मनुष्य का जीवन साधारणतया अधिकाधिक धन-संग्रह करने, सुन्दर मकान बनाने और स्थूल पारिवारिक सुखभोग में व्यतीत होता है। इसे पशु जीवन कहा जा सकता है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो किसी समाज या राष्ट्र की, किसी कला, विज्ञान या आदर्श की सेवा करते हैं। किन्तु भीतरी जीवन उनका भी बहुत कुछ असंस्कृत ही होता है। अपनी साधारण मानव बुद्धि से जिस कर्म को वे श्रेष्ठ समझते है उसके करने का उनको आग्रह होता है। वे किसी उच्च विधान के सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं होते। अपने कर्म से एक निश्चित समय पर अभीष्ट फल प्राप्त करने की उन्हें कामना होती है और अभीष्ट फल न मिलने पर दुःख होता है। उनमें राजसिक कर्त्ता का और अपने आपको श्रेष्ठ मानने का अहंकार होता है। हमारे प्राचीन शास्त्रों

ने इन कर्मों को पूर्त्त[1] ओर दत्त[2] कहा है और माना है कि जो केवल इन्हें ही सब कुछ, श्रेष्ठतम मानकर इनमें रत रहते हैं वे मूर्ख (प्रमूढ़)[3] होते हैं। परोपकार की भावना से किये जाने वाले इन कर्मों का भी निःसन्देह महत्त्व है, कारण ये उग्र तामसिक एवं राजसिक अहंकार और कामना को संयत करने में सहायता देते हैं और प्रकृति को सात्त्विक बनाते हैं; और अपने जीवन की एक विशेष भूमिका पर प्रत्येक मनुष्य के लिये ये कर्म अवश्य करणीय होते हैं। किन्तु सात्त्विक अहंकार और कामना का बन्धन यहां पर भी रहता है और जब तक मनुष्य सत्त्वगुण से भी अतीत न हो, त्रिगुणातीत न हो तब तक वह भगवान् से दूर ही रहता है। इसलिये उपनिषद् ने इन कर्मों को निकृष्ट कोटि का माना है।

---

(१) **वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।**
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

"वापी (बावड़ी) कुआँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि का बनवाना, अन्न आदि का दान करना पूर्त्त कर्म कहलाते हैं"।

(२) **शरणागतपरित्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्।**
बहिर्वेदी च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥

"शरण में आये हुए की रक्षा करना, प्राणियों की हिंसा न करना, यज्ञ से बाहर दान करना दत्त कर्म कहलाते हैं"।

(३) **इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः।**
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

(मुण्डकोपनिषद् १।२।१०)

"सकाम भाव से किये जाने वाले यज्ञों और पूर्त्त दत्त आदि कर्मों को ही जो श्रेष्ठ मानते हैं और इनसे भिन्न किसी उच्च तत्व को श्रेयस्कर नहीं मानते वे प्रमूढ़ होते हैं। वे स्वर्ग में कुछ समय तक अपने शुभ कर्मों का फल भोग कर फिर इस लोक में या इससे भी हीनतर लोक में आ जाते हैं"।

पहली भूमिका

आत्म-समर्पण का संकल्प

भगवान् के समीप पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य को भीतर से यह अनुभव हो कि कामना, अहंकार भोग और द्वन्द्वमय जीवन—चाहे ये तामसिक हों या राजसिक या सात्त्विक—बहुत तुच्छ है। उसे इस जीवन से ऊपर उठकर अध्यात्म-तत्त्व को, आध्यात्मिक जीवन को प्राप्त करना है[४]।

मनुष्य के जीवन में यह जागृति अपने स्वाभाविकविकास-क्रम में स्वयं ही आ सकती है; किसी धर्म या दर्शन के प्रभाव से आ सकती है; किसी महात्मा के दीर्घकालीन उपदेश या प्रभाव से आ सकती है। अथवा कभी-कभी वाल्मीकि, भर्तृहरि, तुलसीदास आदि के समान बाहरी घटना-विशेष से अचानक भी आ सकती है। परन्तु चाहे जिस मार्ग से भी क्यों न आये, बुद्धि को उस लक्ष्य का ज्ञान होना चाहिये, हृदय में उसे प्राप्त करने की अभीप्सा होनी चाहिए और उसके भीतर यह दृढ़ निश्चय हो जाना चाहिए कि अब सम्पूर्ण जीवन इस लक्ष्य की प्राप्ति में ही लगाना है।

---

(४) इसे वेदान्त की भाषा में वैराग्य, आत्म-अनात्म-विवेक और मुमुक्षा (मोक्ष प्राप्त करने की अभीप्सा) भी कहते हैं। परन्तु श्री अरविन्द के योग में वैराग्य का अर्थ बाहरी जीवन का परित्याग नहीं है। यहां आत्मा और अनात्मा में भी कोई मौलिक भेद नहीं है। जिसे हम अनात्मा समझते हैं वह वस्तुतः दिव्य आत्मा का ही एक रूप है और उसे फिर दिव्य बनाना अभीष्ट है। मोक्ष का अर्थ इस जगत् का सर्वथा परित्याग करना नहीं है, इसका अर्थ है अपरा प्रकृति के बन्धन से मोक्ष। यह एक मध्यवर्ती भूमिका है। इसे प्राप्त करके जीवन को दिव्य बनाना, दिव्यभाव को प्राप्त और अभिव्यक्त करना यहां लक्ष्य है।

मनुष्य के भीतर ऐसा परिवर्तन हो जाना कि वह इस साधारण भोग-विलासमय जीवन को तुच्छ मानकर इससे ऊपर उठने और भगवान् को प्राप्त करने का, उसकी प्राप्ति में अपने जीवन को लगाने का निश्चय करले—कोई साधारण वस्तु नहीं है। यह एक बहुत महान् वस्तु है। जब एक बार ऐसा आन्तरिक निश्चय हो गया है तो जानना चाहिये कि मनुष्य इस पथ पर चलने लगा है चाहे लक्ष्य का उसे अपूर्ण ही ज्ञान क्यों न हो; अन्तस्थ गुरु उसके भीतर कार्य करने लगे हैं चाहे वे प्रारम्भ में प्रकट न भी हों। मार्ग में चाहे जितनी कठिनाइयां और बाधायें क्यों न आयें वे मनुष्य के उस अनुभव पर विजय प्राप्त नही कर सकतीं जिसने कि जीवन की धारा को बदल दिया है। एक बार सच्ची पुकार जागृत हो जाने पर वह नष्ट नहीं हो सकती, बनी ही रहती है। यदि कभी बाहरी परिस्थितियां नियमित साधना में बाधा डालती हों या पूरा आत्म-प्रदान न होने देती हों तब भी जिस मन ने एक बार उस लक्ष्य को प्राप्त करने का निश्चय कर लिया है वह बार-बार उसे याद किया करता है और बाधाओं से नवीन-नवीन अनुभव प्राप्त करके अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता ही रहता है।

मनुष्य का इस प्रकार इस लक्ष्य का और इसकी प्राप्ति के लिये अपने जीवन को लगाने का निश्चय करना आत्म-समर्पण की पहली भूमिका है। इसका नाम है आत्म-समर्पण का संकल्प। इसे भगवान् के लिये अभीप्सा (Aspiration for the Divine) भी कहा जाता है।



दूसरी भूमिका

आत्म-प्रदान या आत्मोत्सर्ग

किन्तु यह केवल पहली भूमिका है। जिस समय यह निश्चय हो जाय कि यही सच्चा लक्ष्य है और मुझे अपना जीवन इस लक्ष्य की प्राप्ति में ही

लगाना है तो इसे सतत स्मरण रखना चाहिये। कारण, प्रकृति-माया का जाल बहुत अधिक जटिल होता है। एक बार बौद्धिक रुचि, हृदय का प्रबल आकर्षण और इस पथ पर चलने का संकल्प हो जाने पर भी मानव प्रकृति में से ऐसे दोष प्रकट हो सकते हैं कि जो साधना को अपूर्ण बनादें, संकल्प-शक्ति को दुर्बल बनादें, मनुष्य की गति को मुख्य पथ से दूसरी दिशा में बदल दें अथवा योगी को पथ-भ्रष्ट करके निम्नकोटि के जीवन में ले आयें। यद्यपि योग का स्वल्प अनुष्ठान भी व्यर्थ नहीं जाता किन्तु यह जीवन जो हमें सुअवसर प्रदान करता है उसका यदि हम पूरा लाभ उठाना चाहते हैं, हममें जो पुकार उठी है उसका पूरा प्रत्युत्तर देना चाहते हैं, हमें जो उच्चतम लक्ष्य की झलक मिली है उसकी ओर थोड़ा सा आगे बढ़ने की अपेक्षा यदि हम उसे पूरी तरह अधिगत कर लेना चाहते हैं तो हमें अपनी प्रकृति की क्रियाओं का सावधानी से निरीक्षण करना चाहिये और उन्हें निम्न कोटि के जीवन से छुड़ा कर अध्यात्म पथ में लगाना चाहिये। साधक को यह अनुभव करना चाहिये कि अपनी शक्तियों का जितना भी अंश उस निम्न कोटि के जीवन में निम्न भावना से लगाया जाता है उतना ही वह हमारे लक्ष्य और आत्म-समर्पण का विरोधी है। दूसरी ओर अपनी शक्तियों का जितना भी अंश निम्नकोटि के जीवन से छुड़ा कर उस अध्यात्म जीवन में लगा दिया जाता है उतना ही हम विरोधी शक्तियों पर विजयी होते जाते हैं और अपने लक्ष्य की ओर प्रगति करते हैं। हमें अपने प्रत्येक अंग और प्रत्येक क्रिया को उसे देना चाहिये जो कि साधारण अपरिणत मन को भौतिक पदार्थों की अपेक्षा कम यथार्थ, नीरस, निरानन्द जान पड़ता है परन्तु है वास्तव में यथार्थ, सरस एवं सानन्द। मन में जब पूर्व अभ्यासवश काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, अहंकार आदि के भाव प्रकट हों इन्द्रियों की प्रवृत्ति व्यसनों, विषय-भोगों की ओर हो, वाणी की प्रवृत्ति असत्य-भाषण, पर-निन्दा आदि की ओर हो तो उन्हें केनोपनिषद् की भाषा में यह स्मरण कराते रहना चाहिये :

"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते"

"जिन पदार्थों की तुम उपासना करते हो ये ब्रह्म नहीं हैं, ब्रह्म इनसे भिन्न

है"। साधक को यह ध्यान में रखना चाहिये कि योग जिस परिवर्तन को लक्ष्य में रखता है वह विभक्त इच्छा से, द्विधामय मन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। योग में सफलता की कुञ्जी यह है कि इसे जीवन के अनेक लक्ष्यों और कर्त्तव्यों में से कोई एक न मान कर जीवन का एकमात्र लक्ष्य और एकमात्र कर्त्तव्य निर्धारित करना चाहिये।

इस प्रकार अपने मन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय और शरीर को निम्नकोटि के जीवन से छुड़ा कर अध्यात्म जीवन में लगाने का प्रयत्न करना, इनकी समस्त शक्तियों और क्रियाओं को इधर उधर भटकने न देकर एक ही लक्ष्य की ओर जानेवाली बनाने का प्रयत्न करना आत्म-समर्पण की दूसरी भूमिका है। इसे आत्म-प्रदान या आत्मोत्सर्ग (Self-giving या self-dedication) कहा जाता है।



तीसरी भूमिका

आत्म-निवेदन

परन्तु भगवान् को प्राप्त करने का निश्चय और सम्पूर्ण जीवन को इस पथ में लगाने का प्रयत्न करते हुए भी पुराने अभ्यास के कारण अपने मानव प्रयत्न से मन, हृदय, बुद्धि और इन्द्रियों को निम्नकोटि के जीवन से ऊपर उठाने में पर्याप्त कठिनाई होती है। साधक को चाहिये कि जिसे वह अपना समझता है उस अपने सर्वस्व को और स्वयं अपने आपको भगवान् के समर्पण करते हुए अपने जीवन और अपनी साधना का भार भगवान् के ही हाथों में सौंप दे। "जो भगवान् को चाहता है उसे अपने आपको भगवान् को, केवल भगवान् को ही देना चाहिये"। उसे निम्नलिखित शब्दों में भावना करनी चाहिये :

"मैं भगवान् को चाहता हूँ, उनसे भिन्न और कुछ नहीं चाहता। मैं अपने

आपको पूरी तरह उन्हें देना चाहता हूँ, और चूंकि मेरा अन्तरात्मा उन्हें चाहता है अतः यह नहीं हो सकता कि वे मुझे प्राप्त न हों। मैं केवल उन्हें चाहता हूँ और अपने भीतर उनकी उस क्रिया को चाहता हूँ जो मुझे उनके समीप ले जाय, चाहे वह क्रिया छिपी हुई हो या प्रकट। मैं अपने समय और मार्ग पर आग्रह नहीं करता; भगवान् सब कुछ अपने समय पर और अपने मार्ग से करें मैं उनमें विश्वास करुँगा, उनकी इच्छा को स्वीकार करुँगा, उनकी ज्योति, उपस्थिति और आनन्द के लिये दृढ़तापूर्वक अभीप्सा करुँगा, समस्त कठिनाइयों और विलम्बों को सहन करुँगा, उनपर निर्भर करुँगा और उन्हें कभी भी नहीं छोड़ूँगा। मेरा मन अचंचल हो और केवल उन्हीं की ओर प्रवृत्त हो और उसे वह अपनी शक्ति और आनन्द के प्रति खोलें। मेरा सब कुछ और मैं स्वयं उनके लिये हों। चाहे कुछ भी क्यों न घटे मैं इस अभीप्सा और आत्मप्रदान को बनाये रखूँगा और यह पूर्ण विश्वास रखूँगा कि यह अवश्य सफल होगा[५]"।

इस भावना के साथ-साथ अपने जीवन और साधना का भार भगवान् के सुपुर्द करना और उनकी क्रिया में विश्वास रखना आत्मसमर्पण की तीसरी भूमिका है। इसे आत्मनिवेदन (Selfconsecration या self-offering) कहते हैं। इसके विषय में श्री अरविन्द ने इस प्रकार लिखा है : "मेरे ज्ञान के अनुसार यही ऐसा मार्ग है कि जिसके द्वारा प्रकृति के तैयार होने से पहले ही भगवान् का साधना को अपने हाथ में ले लेना अनुभूत तथ्य हो जाता है। दूसरे मार्गों में भगवान् की क्रिया कभी कभी अनुभूत हो सकती है, परन्तु प्रायः जब तक सब कुछ तैयार नहीं हो जाता तब तक वह पर्दे के पीछे छिपी रहती है। कुछ साधनाओं में भगवान् की क्रिया को अंगीकार ही नहीं किया जाता; सब कुछ तपस्या से प्राप्त किया जाता है। अनेक योगमार्गों में दोनों का संमिश्रण रहता है, तपस्या अन्त में भगवान् के साक्षात् हस्तक्षेप और

---

(५) Letters of Sri Aurobindo. I. P. 72, 73.

सहायता का आह्वान करती है। सब कुछ भगवान् करते हैं यह भाव और अनुभव आत्मसमर्पण योग में ही होता है[६]"।

इस समर्पण के विषय में श्रीमाताजी ने इस प्रकार लिखा है :

"तब आत्म-निवेदन आता है, यह मैं हूँ अनेक अच्छे और बुरे' अन्धकार-मय और प्रकाशमय गुणों का समूह। जैसा भी मैं हूँ उसे आपको अर्पण करता हूँ। मेरे समस्त गुणों और दोषों, परस्पर संघर्षशील वेगों और प्रवृत्तियों के साथ मुझे स्वीकार कीजिये और जैसा चाहे मेरे साथ कीजिये"[७]।

भक्ति शास्त्र के निष्णात यामुनाचार्य ने इस निवेदन के विषय में इस प्रकार लिखा है—

वपुरादिषु योऽपि कोऽपिवा
गुणतोऽसानि यथा तथाविधः।
तदयं तव पादपद्मयो-
रहमद्यैव समर्पितः॥

"शरीर आदि में मैं चाहे जो कुछ हूँ, गुणों में चाहे जैसा हूँ, ऐसा मैं आपके चरण कमलों में आज ही अपने-आपको समर्पित करता हूँ"।

इसे भक्तिशास्त्र में शरणागति भी कहा गया है। यथा—

त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देव देव जनार्दन।
इति यः शरणं प्राप्तः तं क्लेशादुद्धराम्यहम्॥ (नारसिंह)

"हे देव देव! जनार्दन! मैं आपकी शरण में आया हूँ— इस प्रकार कहता हुआ जो मेरी (भगवान् की) शरण में आता है उसे मैं क्लेशों से मुक्त करता हूँ"।

तवास्मीति वदन्वाचा तथैव मनसा विदन्।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः॥

(हरिभक्ति विलास)

---

(६) Letters of Sri Aurobindo. I. P. 73

(७) Words of the Mother. III. P. 6

मैं आपका हूँ ऐसा वाणी से कहता हुआ और वैसी ही मन से भावना करता हुआ मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करके आनन्द को प्राप्त करता है"।

इस विषय में गीता ने इस प्रकार लिखा है :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ गी० १८।६६

"हे अर्जुन ! समस्त धर्मों का परित्याग करके एक मात्र मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा"।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। १८।६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१८।६२॥

"हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हैं। सर्वभाव से (पूर्ण हृदय के साथ) एकमात्र उनकी शरण ग्रहण करो। उनके प्रसाद से परा शान्ति और शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लोगे"।

आत्म-निवेदन के क्रम-सोपान

यह आत्म-निवेदन जिसमें कि सब कुछ भगवान् के समर्पण कर दिया जाता है नवधा भक्तियोग की अन्तिम भूमिका है। इस शिखर पर पहुँचने के लिये साधक को अनेक क्रम-सोपानों में से होकर चलना होता है। इसके लिए साधक को अपनी समस्त वस्तुएँ और अपने समस्त कर्म भगवान् की अर्चना, उपासना, आराधना के रूप में, उन्हें प्रसन्न करने की भावना से, उनके प्रसाद को, उनकी प्रसन्नता को प्राप्त करने की भावना से, उन्हें यज्ञ रूप में अर्पण करने चाहियें।

(क) स्थूल वस्तुओं का अर्पण

अर्चना का प्रारम्भिक रूप पत्र, पुष्प आदि का अर्पण हो सकता है, जैसा कि गीता ने कहा है :

"जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक मुझे (भगवान् को) पत्र, पुष्प, फल जल अर्पण

करता है उस शुद्धात्मा के भक्ति-पूर्वक अर्पण किये हुए उस पदार्थ का मैं भोग करता हूँ"।

(ख) प्रियतम वस्तुओं का अर्पण

इसके अनन्तर जब भगवान् के प्रति प्रेम बढ़ जाता है तो भक्त अपनी प्रियतम वस्तुओं को उनके अर्पण करने लगता है :

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥

(भागवत ११ स्कन्ध)

"संसार में जो भी वस्तु अपने आपको अत्यन्त प्रिय हो उसे मेरे (भगवान् के) निवेदन कर दे। ऐसा करने से मनुष्य अनन्त भगवान् को प्राप्त कर लेता है"।

अपनी समस्त वस्तुएँ भगवान् को अर्पण करते हुए साधक को "यह अनुभव करना चाहिये कि उसके पास जो भी पदार्थ हैं वे सब उसके अपने नहीं हैं अपितु भगवान् के हैं और भगवान् से ही उसके पास आते हैं और उन्हें भगवान् की ही सेवा में अर्पण कर देना है"[८]।

इस विषय को हिन्दी के एक कवि ने निम्नलिखित सुन्दर शब्दों में लिखा है :

मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझको सौंपते का लागे है मोर ॥

बंगला भाषा में इस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है :

गंगार पूजा गंगार जले ।

जैसे गंगा की पूजा गंगा के जल से की जाती है इसी प्रकार भगवान की पूजा भगवान की दी हुई वस्तुओं से की जाती है।

(ग) कर्मों का अर्पण

समस्त पदार्थों के अर्पण करते समय साधक को अपने-आपको भगवान

(८) मातृवाणी प्रथम भाग।

का सेवक समझते हुए अपने जीवन के, अपने बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियों और शरीर के समस्त कर्म उनकी अर्चना, उपासना, आराधना, उनके प्रति यज्ञ के रूप में उन्हें प्रसन्न करने की भावना से उनके अर्पण करने चाहियें—न केवल आन्तरिक कर्म अपितु कृषि, व्यापार, युद्ध, भोजन करना जैसे स्थूल कर्म भी। भोजन करते समय मन में यह भावना रहनी चाहिये कि मैं यह भोजन भगवान् को अर्पण कर रहा हूँ और भगवान् ही मेरे भीतर उसे ग्रहण कर रहे हैं, जठराग्नि के रूप में उसे पचा रहे हैं[९]। अतः गीता ने कहा है :

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१५।१४॥

"मैं वैश्वानर अग्नि के रूप में प्राणियों के देह में स्थित हूं और प्राण एवं अपान से युक्त होकर चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ"।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥९।२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥९।२८॥

"हे अर्जुन तुम जो कर्म करते हो, खाते हो, यज्ञ करते हो, दान देते हो, तप करते हो वह सब मेरे अर्पण करो। ऐसा करने से तुम कर्म-बन्धन-स्वरूप शुभ एवं अशुभ फलों से मुक्त हो जाओगे और संन्यास-योग के द्वारा भगवान् के साथ युक्तात्मा होकर, मुक्त हुए मुझे प्राप्त हो जाओगे"।

तथा :

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतः स्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायैव समर्पयेत् तत् ॥ भागवत ११।२।३६॥

---

(९) When you are eating you must beel that it is the Divine who is eating fhrough you. (Words of the Mother, I)

"शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से बुद्धि से, चित्त (या अहंकार) से अथवा स्वभावत; जो कुछ भी कर्म करे वह सब 'परमात्मा नारायण के लिये ही है' इस भाव से उनके समर्पण कर दे"।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। गीता १८।४६।।

"मनुष्य अपने कर्म के द्वारा भगवान् की अर्चना करके सिद्धि को प्राप्त कर लेता है"।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।

(गीता १२।१०)

"मेरे लिए कर्म करते हुए भी सिद्धि को प्राप्त कर लोगे"।

"अपने समस्त कर्मों में अर्चना, उपासना, आराधना, सेवा की भावना निम्नलिखित श्लोक में अत्यन्त सुन्दर रूप में दृष्टिगोचर होती है—

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनम्,
गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमदनाद्याहुतविधिः ।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा,
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ।।

(आनन्दलहरी २८)

"हे प्रभो ! मेरी वाणी का सब व्यापार आपका जप रूप हो, "मेरे हाथों का समस्त कर्म मुद्रा रूप हो, पैरों का चलना आपके मन्दिर की प्रदक्षिणा रूप हो, मेरा भोजन करना आपके प्रति यज्ञ में आहुति रूप हो। मेरा लेटना अष्टांग प्रणाम हो, पदार्थों के साथ सम्पर्क में जो मुझे सुख मिलता है वह सब (मेरा न होकर) आप परमात्मा के प्रति अर्पण-रूप हो; इस प्रकार मेरी समस्त क्रियायें आपकी पूजा-रूप हो जाय।

निम्नलिखित श्लोक में तो यह भावना व्यावहारिक जीवन में परिणत हुई दिखलाई देती है :

आत्मा त्वं कमलापते ! सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्,
पूजा ते विषयोपभोगरचना, निद्रा समाधिस्थितिः ।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरो,
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं विष्णो ! तवाराधनम् ।।

"हे प्रभो ! मेरा आत्मा स्वयं आप हो (अयमात्मा ब्रह्म), प्राण आपके साथीगण हैं, शरीर आपका गृह मन्दिर है, पदार्थों के साथ सम्पर्क में जो सुख मिलता है वह आपकी पूजा है निद्रा समाधि है, मेरा चलना-फिरना आपके मन्दिर की परिक्रमा है, मेरी वाणी से जो शब्द बोले जाते हैं वे सब स्तोत्र हैं, इस प्रकार मैं जो-जो भी कर्म करता हूँ वह सब आपकी आराधना ही है—आराधना-रुप ही हो"।

कर्म फल का अर्पण

कर्म-समर्पण की भूमिका की प्रारम्भिक अवस्था में साधक अपने-आपको कर्मो का कर्ता मानता है। ऐसी अवस्था में उसके मन में फलों के प्रति चिन्ता होती है। ऐसे समय पर साधक को निम्नलिखित शब्दों को ध्यान में रखते हुए भगवान् में विश्वास को दृढ़ करना चाहिये—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९।२२)

"जो मनुष्य अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन मेरे साथ नित्य योगयुक्त मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति और रक्षा मैं स्वयं किया करता हूँ"।

भोजनाच्छादने चिंता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
यो वै विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्षते ॥

"भगवान् के भक्त भोजन वस्त्रादि की चिन्ता व्यर्थ ही किया करते हैं। जो भगवान् सम्पूर्ण विश्व का पालन करते हैं वे क्या अपने भक्तों की उपेक्षा कर सकते हैं"।

चिंतां कुर्यान्नरक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः।
तथाऽर्पयन्हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात् ॥

—भक्ति विवेक

"जिस प्रकार मनुष्य पशु को बेचकर उसके भरण-पोषण की चिन्ता से मुक्त हो जाता है, इसी प्रकार अपने देह (आदि) को भगवान् के अर्पण

करता हुआ इसकी भोजन वस्त्रादि से रक्षा की चिन्ता को त्याग दे और यह निश्चय करले कि भगवान् ही इसके भार को ढो रहे हैं"।

श्री अरविन्द के शब्दों में—"इस बात पर दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन ठीक-ठीक कर दोगे तब उसके फलस्वरूप निश्चित रुप से वही होगा जो उचित और आवश्यक है; और यदि वह फल तुम्हारी अभिरूचि और आशा के अनुरूप न भी हो तब भी इस विश्वास को ज्यों का त्यों बनाये रखो। जो शक्ति इस जगत् का परिचालन करती है वह कम से कम इतनी बुद्धि तो रखती ही है जितनी तुम रखते हो और यह नितान्त आवश्यक नहीं है कि इस जगत् के सम्बन्ध में तुम से सम्मति ली जाय या तुमको सन्तुष्ट किया जाय; स्वयं भगवान् उसकी देखभाल कर रहे हैं[१०]"।

अपने कर्म को भगवान् के अर्पण करते समय साधक के सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि वह क्या कर्म करे, क्या कर्म उसका कर्त्तव्य है। साधारण जीवन में तो मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्म का निर्णय किसी शास्त्र की आज्ञा से, अपना समाज या अपनी व्यक्तिगत बुद्धि जिसे श्रेष्ठ समझती है उसके अनुसार किया करता है। परन्तु योग-मार्ग में साधक को इन सबसे अतीत होना होता है। अतः उसे अपने कर्त्तव्य कर्म का निर्णय भी भगवान् से ही कराना चाहिये।

"जो कुछ तुम चाहते हो उसे एक ओर रख दो और यह जानने की इच्छा करो कि भगवान् क्या चाहते हैं। तुम्हारा हृदय, तुम्हारे आवेग या तुम्हारी अभ्यासगत धारणायें जो कुछ ठीक और आवश्यक समझते हैं उस पर विश्वास मत रखो और इन सबसे ऊपर उठ कर गीता के अर्जुन के समान, केवल यह जानने की चेष्टा करो कि भगवान् ने तुम्हारे लिये क्या उचित और आवश्यक निर्धारित किया है[११]"।

(१०) हमारा योग और उसके उद्देश्य।
(११) हमारा योग और उसके उद्देश्य।

गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है :

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम ॥२।७॥

"जिस कर्म के करने में मेरा कल्याण हो वह निश्चित रूप में मुझे बतलाइए। मैं शिष्य भाव से आपकी शरण में हूँ, मुझे कर्त्तव्य कर्म का आदेश दीजिये"।

इस प्रकार कर्त्तव्य कर्म की भगवान् से जिज्ञासा करते हुए कर्म करना और फल का भार भगवान् पर छोड़ देना कर्म समर्पण की पहली अवस्था है। इसे **कर्म-फल समर्पण** कहा जाता है [१२]।

समता और कर्त्तव्य कर्म का आदेश

कर्त्तव्य कर्म की भगवान् से जिज्ञासा करने पर प्रारम्भ में तो साधक को स्पष्टतया कोई आदेश नहीं मिलता। किन्तु जब साधक शुद्ध भाव से अपने भीतर यह निश्चय कर लेता है कि मैं वही कर्म करना चाहता हूँ जिसे भगवान् मेरे द्वारा कराना चाहते हैं, तो भगवान् की ओर से स्पष्ट संकेत न मिलने पर भी जो भी कर्म वह करेगा उसमें फलों के प्रति अनासक्ति और समता आजायगी। ऐसा करते रहने पर धीरे-धीरे भगवान् के आदेश का संकेत भी मिलने लगेगा। अतः श्रीमाताजी ने लिखा है : "यदि तुम सतर्क हो, यदि तुम ध्यान में सावधान हो तो तुम्हें क्या करना चाहिये इसकी प्रेरणा अवश्य मिलेगी। हाँ, तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि समर्पण करने का अर्थ है तुम्हारे कर्मो का जो भी फल हो उसे स्वीकार करना, फिर चाहे वह फल तुम्हारी आशा के सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो"।

(मातृवाणी प्रथम भाग)

उस समय साधक को भगवान् की ओर से प्रेरणा का अनुभव होने लगता है। वह ऐसा अनुभव करता है—

---

(१२) सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥गीता १२।११॥

कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ।।

इच्छा से या अनिच्छा से मैं जो भी शुभ या अशुभ कर्म करता हूँ वह सब तुझसे प्रेरित हुआ ही करता हूँ और तेरे ही अर्पण है ।

'त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' ।

"हे हृषीकेश ! मेरे हृदय में स्थित आप जैसा मुझसे कर्म कराते हैं वैसा मैं करता हूँ" ।

कर्म समर्पण की पहली भूमिका पर तो साधक स्वयं अपने आप कर्त्तव्य कर्म का निर्णय करता है यद्यपि वह कर्म को भगवान् की पूजा के रूप में करता है । इससे आगे वह अपने कर्त्तव्य की भगवान् से जिज्ञासा करता है, किन्तु उसे भगवान् के आदेश का स्पष्ट पता नहीं चलता । तीसरी अवस्था में वह भगवान् से प्रेरणा, आदेश और पथप्रदर्शन का स्पष्ट अनुभव करता है । अतः श्री अरविन्द लिखते हैं : "तुम्हारी भक्ति के प्रभाव से तुम्हारा सम्पर्क (भगवान् और) भगवती माता के साथ इतना घनिष्ठ हो जायगा कि जब कभी भी तुम उनका एकाग्र ध्यान करोगे और सब कुछ उनके हाथों में सौंप दोगे तो तुम्हें उनका तुरन्त पथप्रदर्शन, उनका प्रत्यक्ष आदेश या उनकी प्रेरणा मिलेंगे । तुम्हें इस बात का स्पष्ट संकेत मिलेगा कि तुम्हें क्या करना चाहिये, किस विधि से करना चाहिये और उसका क्या परिणाम होगा" । (माता)

कर्तृत्वाहंकार का त्याग

इस स्थिति में भगवान् से कर्म की प्रेरणा या आदेश प्राप्त करके भी साधक कर्म का कर्त्ता अपने आपको ही मानता है । परन्तु साधना के आगे बढ़ने पर उसे अपने भीतर और बाहर भगवान् की शक्ति क्रिया करती हुई अनुभूत होने लगती है । वह उस समय ऐसा अनुभव नहीं करता कि "जैसा भगवान् मुझसे कराते हैं वैसा मैं करता हूँ", अपितु यह कि "भगवान् जैसा चाहते हैं अपनी शक्ति के द्वारा मेरे भीतर कर्म करते हैं; मैं केवल साक्षी रूप से उन्हें होता हुआ देखता हूँ" ।

इस अवस्था में "जबकि भगवान् की दिव्य शक्ति साधक के भीतर स्पष्टतया क्रिया करने लगती है तो वह उसके भीतर शुद्धि भी करती है। अतः जिस प्रकार किसी दीर्घ काल से गन्दे पड़े मकान को झाड़े जाने पर धूल ऊपर उठ आती है इसी प्रकार साधक की प्रकृति के दोष उभर कर ऊपर आते हैं। उसे अनेक प्रकार के शारीरिक रोग और मानसिक कष्टों का सामना करना होता है। ऐसी परिस्थिति में साधक घबरा जाता है और निराश एवं हतोत्साह हो सकता है। ऐसे समय पर उसे इन सब रोगों और कष्टों को शुद्धिकरण की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग मानकर भगवान् में विश्वास रखना चाहिये और गीता के इन वचनों को सतत स्मरण रखना चाहिये :

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

"अपने आपको हृदय और मन से मुझे दे देने पर, मेरे प्रसाद से तू समस्त कठिनाइयों और संकटों को पार कर जायगा"।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८।६६॥

"समस्त धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर; मैं तुझे समस्त पापों और दोषों से मुक्त कर दूंगा"। तुम्हें इस प्रकार परेशान होने की आवश्यकता नहीं है मानो सम्पूर्ण उत्तरदायित्व तुम्हारा ही हो और परिणाम तुम्हारे प्रयास पर ही निर्भर करता हो; तुमसे कहीं अधिक शक्तिशाली सत्ता इस कार्य में लगी हुई है। चाहे कोई रोग, शोक हो या संकट उत्पन्न हो अथवा तुम्हारे भीतर कोई पाप या मलिनता उभरती हो, किसी बात से तुम्हें घबराना नहीं चाहिये। केवल उस भगवान् को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। उनके इस वचन पर विश्वास रखो कि "मैं तुम्हें समस्त पापों और दोषों से मुक्त कर दूंगा"[१३]।

इस स्थिति में साधक न अपना कोई कर्म समझता है, न अपने आपको कर्ता समझता है और न अपने ऊपर कर्म का कोई उत्तरदायित्व मानता है। वह अपने बुद्धि, मन, हृदय, इन्द्रिय और शरीर से भगवान् के कर्म को उनकी

---

(१३) हमारा योग और उद्देश्य।

शक्ति के द्वारा अनुष्ठित होता हुआ देखता है। यहाँ साधक अपने जीवन और साधना के भार को भगवान् और भगवत्-शक्ति के हाथों में सौंप कर अनुभव करता है कि वस्तुतः भगवान् उस भार को वहन कर रहे हैं। अतः श्रीअरविन्द लिखते हैं :

"तब तुम यह अनुभव करोगे कि भगवत्शक्ति केवल प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन ही नहीं करती अपितु तुम्हारे कर्मों का प्रवर्त्तन और अनुष्ठान भी करती है, तुम्हारी समस्त क्रियायें उन्हीं से प्रवृत्त होती हैं, तुम्हारी सम्पूर्ण शक्तियाँ उनकी ही हैं, तुम्हारे मन, प्राण और शरीर उन्हीं के कर्म के सचेतन और आनन्दयुक्त उपकरण हैं, उनकी लीला के साधन हैं, भौतिक विश्व में उनकी अभिव्यक्ति के पात्र हैं। इस एकता और निर्भरता की अपेक्षा अधिक सुखमयी अवस्था और कोई नहीं हो सकती। इस स्थिति में प्रवेश करने पर तुम अज्ञान के संघर्ष और दुःखमय जीवन की सीमा को पार करके अपनी अध्यात्म सत्ता के सत्य में, उसकी गम्भीर शान्ति और प्रगाढ़ आनन्द में पहुँच जाओगे"। (माता)

करणाहंकार का त्याग

भगवान् की दिव्य शक्ति को अपने भीतर क्रिया करते हुए देखने पर साधक कर्तृत्वाहंकार से मुक्त हो जाता है परन्तु कभी-कभी साधना में महत्त्वाकांक्षा के घुस जाने पर उसमें करणाहंकार आ सकता है। वह यह सोच सकता है कि "मैं बहुत बड़ा साधक हूँ, मैं इतना आगे बढ़ गया हूं, मैं भगवान् के हाथ का महान् उपकरण हूं, दूसरों की अपेक्षा मैं बहुत अधिक श्रेष्ठ और उच्च हूं, तभी तो भगवान् ने अपने महान् कार्यों के लिये मुझे चुना है"। ऐसी स्थिति में साधक को अपने दोष को पहचान कर यह अनुभव करना चाहिये कि मनुष्य जड़, वनस्पति और पशु से विकास करता हुआ मानव श्रेणी में आया है। उसका यह विकास प्रकृति या ईश्वरीय शक्ति का परिणाम है। यह शक्ति सभी के भीतर समान रूप से क्रिया करती है, उसका किसी से पक्षपात नहीं है। आज जो व्यक्ति चोर, डाकू, विषयी, नीच, मूर्ख, अल्पशक्ति

दिखलाई देते हैं वे भी कभी न कभी साधु, महात्मा, दानी, परोपकारी, बलिष्ठ, ज्ञानी बनेंगे। जो आज सन्त, महात्मा, दानी, ज्ञानी, बलिष्ठ दिखलाई देते हैं वे भी अपने पूर्व जन्मों में चोर, डाकू, विषयी, अल्पशक्ति रहे होंगे। यह ईश्वर की दिव्य इच्छा और दिव्य शक्ति पर निर्भर करता है कि वह अपने दिव्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये किस समय किस व्यक्ति से किस प्रकार के कर्म कराती है। यदि आज किसी व्यक्ति में विशेष बौद्धिक, प्राणिक या शारीरिक शक्ति कार्य कर रही है तो यह विशेषता ईश्वरीय शक्ति की है न कि उस व्यक्ति की। यदि कुम्हार किसी पात्र को दूसरे की अपेक्षा अधिक सुन्दर बनाता है तो यह विशेषता उस कुम्हार की है न कि पात्र की"।[१४]

भगवान् ने एक विशेष कार्य के लिए अर्जुन को निमित्त बनाया। उसे यह अहंकार हो गया कि मैं बहुत बड़ा वीर हूँ। परन्तु जिस कार्य के लिए उसे चुना गया था उसके पूरा हो जाने पर उसकी स्थिति साधारण सैनिक जैसी हो गई। उसके गांडीव में वह शक्ति न रही। साधारण भीलों से उसे पराजित होना पड़ा। तब उसे अनुभव हुआ कि उसके भीतर भगवान् की शक्ति कार्य कर रही थी। वह अहंकारवश ही अपने-आपको इतना बड़ा वीर समझता था। वस्तुतः वह महत्ता स्वयं भगवान् की या उनकी शक्ति की ही थी। यह दृष्टि साधक को प्रत्येक कर्म के अवसर पर रहनी चाहिये।

इस प्रकार एकमेवाद्वितीय परमात्मा और उसकी विश्वव्यापी पराशक्ति की यह विशाल दृष्टि साधक को करणाहंकार से मुक्त कर देती है।

---

(१४) योग समन्वय १।११

अन्तिम भूमिका

प्रकृति का दिव्य रूपान्तर

इस समय आत्मा तीन गुणों से अतीत हो जाता है; प्रकृति तीन गुणों का उपयोग करती हुई भी, उनके बन्धन से मुक्त हो जायगी। तमोगुण शुद्ध शम या शान्ति में परिणत हो जायगा। रजोगुण शुद्ध तप या चेतन शक्ति की क्रिया के रूप में रूपान्तरित हो जायगा। सत्वगुण शुद्ध प्रकाश या ज्योति में परिणत हो जायगा। प्रकृति उस शान्ति के आधार पर और उस ज्योति के स्वर्ग में प्रतिष्टित रहती हुई द्विव्य शक्ति के उन्मुक्त और अनन्त समुद्र में प्रवाहित होगी। कर्म इस प्रकार होने लगेंगे मानो वे भगवान् के ज्ञान की, जो ज्ञान कि भगवान् के संकल्प के साथ एक है, स्वाभाविक अभिव्यक्ति हों। इस समय समस्त कर्म किसी प्रकार का चिन्ह छोड़े बिना इस प्रकार विलीन हो जाते हैं जैसे समुद्र पर से लहरें या कमल के पत्र से जल :

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

"जिसकी सत्ता अहंभाव से मुक्त है और जिसकी बुद्धि पर कोई चिह्न नहीं पड़ता"।

यह कर्मों का वह समर्पण है जिसे श्रीकृष्ण ने इन शब्दों में कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३।३०)

"समस्त कर्मों को मेरे ऊपर छोड़कर और अपनी सम्पूर्ण सत्ता को अध्यात्म-योग में लगा कर कामना और ममता से मुक्त हो, युद्ध कर और आत्मा के ज्वर को हटा"।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(गीता ५।१०)

"जो समस्त कर्मों को मेरे ऊपर छोड़ कर, आसक्ति का परित्याग करके करता है, वह पाप से इस प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कमल का पत्र जल से"। यहाँ कर्मों के साथ-साथ मन और बुद्धि भी भगवान् को अर्पित हो चुके हैं (मय्यर्पितमनोबुद्धिः)। मन एकमात्र भगवान् में स्थित रहता है और भगवान् के आश्रय में या स्वयं भगवान् के द्वारा योग का अनुष्ठान होता है :

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

इस अवस्था में साधक अपने मन, बुद्धि और शरीर आदि को भगवान् के हाथों में इस प्रकार सौंप देता है जैसे इञ्जिन ड्राइवर के हाथों में। वह भगवान् के द्वारा उनके संचालन को होता हुआ स्पष्ट देखता है और चाहे जैसी भी घटना क्यों न हो, सुख हो या दुःख, जीवन हो या मरण उसे भगवान् की ओर से आया हुआ देखता हुआ उसमें आनन्द का ही अनुभव करता है। इसकी कुछ झलक हमें एक भक्त के इन वचनों में मिलती है :

राजी[१५] हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा[१६] है।
याँ यों भी वाह-वाह है और वों भी वाह-वाह है।
गुदड़ी जो सिलाई तो वही ओढ़ के बैठे।
और शाल उढ़ाई तो उसी शाल में खुश हैं।
गर खाट बिछाने को मिली खाट में सोये।
जो टाट बिछाने को मिला तो टाट में सोये॥
दूकाँ में सुलाया तो जा हाट में सोये।
रस्ते में कहा सो तो जा बाट में सोये॥
खाने को मिला कम तो उसी कम में रहे खुश।
मातम[१७] जो मिला तो उसी मातम में रहे खुश॥
पूरे[१८] हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं।
चौपाल में, इदबार में[१९] बाजार में खुश हैं॥

---

(१५) प्रसन्न, (१६) इच्छा, (१७) शोक, (१८) पूर्ण, सिद्ध, (१९) दरबार, राज्यशासन में कोई उच्च पद।

इस अवस्था में कभी कभी साधक को अनेक प्रकार की ऐसी परिस्थितियों (जैसी कि सीता, मीरा, प्रह्लाद आदि के सामने उपस्थित हुईं) में से बीतना पड़ता है जिन्हें साधारण मानव मन के दृष्टिकोण से भयंकर विपत्तियां कह सकते हैं। ऐसी दशा में उसे यह स्पष्ट आभास होने पर भी कि उसकी वे परिस्थितियां भगवान् की ओर से बनाई गई हैं, उसके चित्त की शान्ति, समता और भगवान् में दृढ़ श्रद्धा-विश्वास तब ठीक प्रकार बने रह सकते हैं जबकि वैसी परिस्थितियां उसके ऊपर आरोपित करने में भगवान् के उद्देश्य का उसे भीतर से ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय। परन्तु यह ज्ञान अनेक बार नहीं होता। ऐसी दशा में श्री अरविन्द के इन शब्दों को ध्यान में रखते हुए इनका मनन करना चाहिये :

यदि भगवान् तुम्हारे ऊपर कठिनाइयां आरोपित करते हैं तो प्रसन्नता के साथ उन्हें स्वीकार करलो। वे सुअवसर में परिणत हो जायेंगी।

If the Divine imposes hardships on you accept them, they would be changed into opportunities".

माता जी की यह राधा की प्रार्थना तो आत्मसमर्पण की बहुत गहरी दिव्य स्थिति से निकली प्रतीत होती है :

हे प्रभो ! मेरे सब विचार तेरे हैं, मेरे हृदय के समस्त आवेग और भावनायें, मेरे सब इन्द्रिय-ज्ञान, मेरे प्राण का प्रत्येक स्पंदन, मेरे जीवन की प्रत्येक गति-प्रवृत्ति, मेरे शरीर का एक-एक अणु मेरे रक्त का एक एक बिन्दु तेरे हैं। मैं सर्व प्रकार से और समग्र रूप में तेरी हूं, बिना कुछ भी बचाये समग्र रूप में तेरी हूं। मेरे लिये तू जो कुछ चाहेगा मैं वही हो जाना चाहूंगी। मेरे लिए तू जीवन चुने या मरण हर्ष लाये या शोक, सुख दे या दुःख, जो कुछ भी तेरी ओर से मुझे मिलेगा, वह सब मुझे शिरोधार्य होगा। तेरी प्रत्येक देन मेरे लिए सदा ही एक दिव्य देन होगी, अपने साथ परम आनन्द लानेवाली दिव्य देन होगी"।

यहां मन, बुद्धि, हृदय, प्राण और शरीर की पूरी तरह भगवान् से एकता दिखाई देती है। मनुष्य की प्रत्येक इच्छा भगवान् की इच्छा में समर्पित होकर उससे एकीभूत हो गई है। जीवन की प्रत्येक घटना में भगवान् की

क्रिया का स्पष्ट दर्शन है और उसमें, यहां तक कि मृत्यु तक में भी दिव्य आनन्द का आभास है।

इस स्थिति के विषय में श्री अरविन्द ने इस प्रकार लिखा है :

"इस सिद्धि की अन्तिम भूमिका उस समय आयेगी जबकि तुम भगवान् और भगवती माता के साथ पूर्णतया एकीभूत हो जाओगे और अपने आपको कोई पृथक् उपकरण, सेवक या कर्त्ता न जानोगे अपितु यह अनुभव करोगे कि तुम सचमुच भगवान् के, भगवती माता के एक शिशु हो, उनकी चेतना और शक्ति के सनातन अंश (ममैवांशः सनातनः) हो। सदा ही वे तुम्हारे भीतर रहेंगे और तुम उनके भीतर। तुम्हारा यह सतत, सरल और स्वाभाविक अनुभव होगा कि तुम्हारा समस्त विचार करना, देखना, कर्म करना, तुम्हारा श्वास-प्रश्वास करना, तुम्हारा हिलना-जुलना उनसे ही होते हैं और वे ही करते हैं। तुम यह जानोगे, देखोगे और अनुभव करोगे कि उन्होंने ही तुम्हें एक व्यक्ति और शक्ति के रूप में अपनी सत्ता से निर्मित किया है, अपने भीतर से लीला के लिये बाहर प्रकट किया है; तुम उन्हीं की सत्ता की एक सत्ता, उनकी चेतना की एक चेतना, उनके आनन्द का एक आनन्द हो और सर्वदा उनके भीतर सुरक्षित हो। जिस समय यह स्थिति पूर्ण हो जायगी और भगवान् और भगवती माता की अति मानस शक्तियाँ निर्बाध रूप में तुम्हारा संचालन कर सकेंगी, तब तुम भगवान् के कर्मों के सिद्ध कर्मी होंगे। उस समय तुम में जो ज्ञान, संकल्प और कर्म प्रकट होंगे वे सुनिश्चित, सहज, ज्योतिर्मय, स्वतःस्फूर्त्त, निर्दोष, परब्रह्म के स्वाभाविक स्पन्दनरूप होंगे"। (माता)

यह आत्म-समर्पण की अन्तिम भूमिका है। यहाँ मनुष्य के मन, बुद्धि, हृदय, प्राण, इन्द्रियाँ, शरीर और इनकी सम्पूर्ण क्रियायें भगवान् और उनकी दिव्य शक्ति को अर्पित होकर उनसे सक्रिय रूप में युक्त हो गये हैं और ये दिव्य होकर भगवान् की दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना, दिव्य शक्ति और आनन्द को निर्बाध रूप में अभिव्यक्त करते हैं। मानव जीवन दिव्य जीवन में परिणत होने लगा है।

इति

परिशिष्ट

सम्मतियाँ

दिव्य जीवन

श्री अरविन्द कृत **'लाइफ डिवाइन'** का हिन्दी अनुवाद
रहस्यमय शब्दोंऔर जटिल भावों की व्याख्या और हिन्दी-अंग्रेजी शब्द सूची सहित

अनुवादक

केशव देव आचार्य

Acharya Keshava Deva is singularly equipped by temperament and training for an authentic version of The Life Divine, almost cut out for the feat, as few translators can be.

His meditative bent and preoccupation with philosophy—Eastern and Western—and later his sole absorption with Sri Aurobindo's philosophy as the last refuge of his questing mind, the attempt at living out the philosophy of The Life Divine by the practice of the Integral yoga for about 30 years, when he tackled and chewed, and digested every word and thought that offered difficulty—formed his hardest preparation. An erudite scholar of Sanskrit that he is, synonyms and equivalents from traditional philosophies matching the terms used in The Life Divine were at his command and make familiar reading of his text.

Sensitive to the nuances of style, the Acharya has judiciously avoided loading his version with the corresponding long periodic sentences of the Master and split them into short ones. It is a chaste, fluent, lucid and felicitous Hindi, that he weilds and his work reads like an original classic of a consummate writer.

Altogether this Hindi version of Sri Aurobindo's magnum opus is a master-piece, likely to be the best of its kind, and as such the philosophical literature of Hindi would indeed cherish it as a monumental asset. It will be in the fitness of things if it is recognised as a text book for the post-graduate departments of Hindi and Philosophy in our universities that are fast replacing English as the medium of higher studies. Research scholars would no doubt find in it ample material for their doctorate degrees.

Mother India
Sri Aurobindo's Ashram
Pandichery

There are more than one translation of Sri Aurobindo's magnum opus, The Life Divine. Sri K. D. Acharya's Translation is singular in that it is very close and faithful both to the letter and spirit of the original text.

New Race
Dr. V. Madhusudan Reddy
Head of the Department of Philosophy
Osmania University, Hydrabad.

मुझे यह लिखते हुए हर्ष होता है कि आचार्य श्री केशव देव जी ने मूल ग्रन्थ के गंभीर और जटिल भावों को सरल, सजीव और उच्च साहित्यिक भाषा में ठीक-ठीक व्यक्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

डा० मंगल देव शास्त्री
भू० पू० उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत
विश्वविद्यालय वाराणसी

समस्त अनूदित ग्रन्थ ऐसा सरल, स्वाभाविक और धाराप्रवाही है कि जिससे मूल ग्रन्थ के विषय को समझने में कठिनाई या रुकावट नहीं होती। किसी भी उच्च कोटि के अनुवाद में जो विशेषतायें होनी चाहिये वे प्रायः

सभी इसमें विद्यमान हैं और इसलिये मुझे यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि यह अनुवाद इस प्रकार के किसी भी अन्य प्रयास से श्रेष्ठ है। अपने इस प्रयास के द्वारा आचार्य जी ने समकालीन भारतीय हिन्दी दार्शनिक साहित्य में निश्चय ही एक भारी कमी की पूर्ति की है।

डा० रामनाथ शर्मा
अध्यक्ष दर्शन विभाग मेरठ कालिज,
मेरठ विश्वविद्यालय

गीता-नवनीत

'गीता-नवनीत' के लेखक श्री स्वा० केशवदेव जी आचार्य भारत के उन गिने चुने थोड़े-से व्यक्तियों में से हैं जिन्हें श्री अरविन्द के विचारों को हिन्दी भाषा द्वारा देश में प्रचार करने का अधिकारी कहा जा सकता है। आपने हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में रहकर भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों का गहरा अध्ययन किया है। आपने लगभग बारह-तेरह वर्षों की कठोर साधना और तपस्या से गीता और 'ऐस्सेज़ ऑन दी गीता' को मथकर उनमें से 'गीता-नवनीत' निकाला है। यह पुस्तक गीता के विषय में एक महत्त्वपूर्ण रचना है। मेरा विश्वास है कि इसके द्वारा गीता और श्री अरविन्द के गम्भीर भावों में हिन्दी जानने वाले सरलता से प्रवेश पा सकेंगे।

—डा० भिक्खन लाल आत्रय,
अध्यक्ष दर्शन, मनोविज्ञान, धर्म तथा भारतीय दर्शन,
काशी विश्वविद्यालय।

In this book the author has shown a masterly grasp of the philosophy of the Upanishads, crystallised and synthesised in the Flute-player's Song Divine. Sri Aurobindo's spirit is imperceptibly betrayed in the comprehensive thoroughness, exhaustiveness, depth of study, erudition, happy precision and choice of words, all richly employed and expressed in the logical interpretation and meaning of such a difficult theme as the Gita.

—Pioneer (Lucknow)

Acharya Keshava Deva's 'Essays on the Gita' are comprehensive, exhaustive and profound. They are the product of not only his personal studies of the Gita and various commentaries on it but his own meditative reflection and intuitive perceptions. Sri Aurobindo has no doubt been an excellent guide for him, but the style, the presentation, the copious illustrations with the help of which abstruse philosophical questions are solved are all his own. These essays give us nearly all the exhaustive and learned matter of Sri Aurobindo's book ('Essays on the Gita') in a quite simple, lucid and easily graspable Hindi language.

—**Indian Nation** (Patna)

गीता विज्ञान

'गीता-विज्ञान' में लेखक ने 'एस्सेज ऑन दी गीता' में से श्लोकों के प्रत्येक शब्द के अर्थों का चयन करके पृथक्-पृथक् हिन्दी अनुवाद किया है और गम्भीर भाव नीचे टिप्पणी के रूप में दिए हैं। इस प्रकार अन्वय, पदच्छेद, अर्थ और भावार्थ सहित यह ग्रन्थ साधारण संस्कृत-हिन्दी पढ़े-लिखों के लिए भी श्री अरविन्द के गम्भीर आध्यात्मिक और दार्शनिक भावों में प्रवेश का द्वार खोल देता है।

विज्ञान (Supermind) के आलोक में गीता की यह व्याख्या भारतीय धर्म और दर्शन के प्रति एक सुसम्बद्ध नवकृत रूप उपस्थित करती है। निःसन्देह यह एक अभिनव प्रयास है।

—**विश्व ज्योति**

The author has tried to be faithful not only to the spirit but to the very letter of Sri Aurobindo's interpretation (of the Gita) as set forth in his 'Essays on the Gita.' Those who want to understand the synthetic and dynamic virile teaching

of the Gita are advised to pursue its pages with care. This book is expected to serve as a competent guide to all Hindi knowing seekers after spiritual perfection.

—Mother India

The 'Gita Vijnana' is a faithful translation of all the shlokas and the teachings of the Gita contained in Sri Aurobindo's 'Eassays on the Gita.' Its author Sri Keshava Deva Acharya is an inmate of Sri Aurobindo Ashram and a learned scholar of Sanskrit. He has already written several treatises dealing with Sri Aurobindo's works and writings, he is, therefore, fully qualified to translate Sri Aurobindo's book. The 'Gita Vijnana' is an excellent monograph for readers who are spiritually inclined and are naturally anxious to grasp the true interpretation of the shlokas of the Gita. Since this book mirrors India's great spiritual heritage, it should prove valuable to all Gita lovers.

—Pioneer.

गीता प्रदीप

प्रस्तुत पुस्तक श्री अरविन्द के 'ऐस्सेज़ ऑन दी गीता' में से संकलित गीता के श्लोकों के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर है। श्री अरविन्द आश्रम के वायुमण्डल में पोषित अनुभवी तथा विद्वान् व्यक्ति द्वारा होने के कारण अनुवाद सभी वर्गों के पाठकों के लिए बोधगम्य है, प्रामाणिक तो होना ही चाहिए।

—जीवन साहित्य

आत्मसमर्पण योग

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में जिस योग को अपना उत्तम रहस्य, गुह्यतम रहस्य कहा है, वह आत्मसमर्पण योग ही है। विद्वान् अनुभवी लेखक ने—

किसका समर्पण किया जाय, कैसे इसे आरम्भ किया जाय और फिर कैसे क्रमशः आगे बढ़ाया जाय—इन सब रहस्यों का प्रकाश जिस क्रमिक भूमिका में और सरल एवं स्पष्ट भाषा में किया है उससे यह गूढ़तम विषय बहुत ही सरल हो जाता है। अनेक उच्च कोटि के आध्यात्मिक ग्रन्थों और महात्माओं के विषयोपयोगी उत्तम-उत्तम वचनों के उद्धरण से विषय प्रतिपादन में अपूर्व रोचकता आ गई है। गीता के शरणागति योग को अपने जीवन में लाने की इच्छा रखने वालों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

—प्रभात

'गीता-नवनीत' और 'आत्मसमर्पण योग' दोनों पुस्तकें बहुत अच्छी हैं। उनके प्रसार से लोगों को सत्य की खोज में बहुत अच्छा प्रकाश मिलेगा। आपकी इस सत्क्रिया के लिए धन्यवाद।

हनुमानप्रसाद पोद्दार (संपादक 'कल्याण')

सत्य का रहस्य

इसमें प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध धर्मों के महात्माओं के वचनरूपी रत्नों को जिस सुन्दरता के साथ एक सूत्र में ग्रथित किया गया है उससे यह पुस्तक एक अद्भुत प्रभा से जगमगाती-सी जान पड़ती है। इसके पढ़ने से संकीर्ण साम्प्रदायिकता दूर होती है और हृदय में समस्त धर्मों के प्रति प्रेम, सौहार्द और एक मानवता की भावना जागृत होती है।

देश में स्वतन्त्रता के बाद जो सर्वसाधारण में भ्रष्टाचार और विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता जैसी निम्न कोटि की प्रवृत्तियां बढ़ती दिखाई दे रही हैं और विचारशील मनुष्यों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय बनी हुई हैं उनके निराकरण में और जीवन को श्रेष्ठ एवं उन्नत बनाने में इस पुस्तक से पर्याप्त सहायता मिलेगी—ऐसी मेरी धारणा है।

—श्री अनन्तशयनम् अय्यंगर

(भू० पू० अध्यक्ष लोकसभा)

'सत्य का रहस्य' जो पुस्तक का नाम है उसे वास्तव में जान और पहचान सकना सरल नहीं। ऐसे गूढ़ तत्व को समझना और उसका आत्मानुभव करना ही जीवन का सुन्दरतम रहस्य है। स्वामी केशवदेवजी ने इसको अनेक रूपों में सरल बनाकर समझाने का प्रयास किया है तथा अनेक महापुरुषों के जीवन की विभिन्न घटनाओं का उल्लेख कर व्यावहारिक जीवन में कैसे सत्य का अवलम्बन किया जाय उसे सुन्दर और सरल रूप में व्यक्त किया है।

—श्री लालबहादुर शास्त्री
(भू० पू० प्रधानमन्त्री)

GUIDE TO SRI AUROBINDO'S PHILOSOPHY

Here is an assortment of terms of cardinal importance in the Aurobindo-vocabulary, presented under ten subject-oriented chapters such as Reality and its aspects, Gods, Consciousness, Supermind, Transformation, Divine Life, etc., with descriptions and expositions churned out of the vast literature of Sri Aurobindo. Thus, all that the Master has said at various places on the key-terms of the Integral Yoga and philosphy (which the readers seek most to understand—terms such as the Psychic, the Vital, the Subliminal, the Intuition, the Supermind and so on and so forth) have been brought together to provide annotations to them

The work should serve as a fine guide to the readers of Sri Aurobindo's literature.

—Mother India

Sri K. D. Acharya has done a great service in compiling

such terms from Sri Aurobindo's vast literature as would require a correct explanation and presenting explanations in the words of Sri Aurobindo himself.

—**Nagpur Times**

The explanations of the special terms used by Sri Aurobindo in his works are so arranged that the readers may form a clear, synthetic and complete idea of Sri Aurobindo's philosophy in the shortest possible compass. It is a good introduction and will make the study of the complete work easier.

—**Mail**

श्री अरविन्द शब्दकोष

श्री अरविन्द द्वारा 'लाइफ डिवाइन' आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त लगभग ५००० अंग्रेजी शब्दों के लगभग १२००० हिन्दी समानार्थक इस कोश में दिये गये हैं। लगभग १४०० अंग्रेजी शब्दों के लगभग ३००० संस्कृत समानार्थक ऐसे दिये गये हैं कि जिनका स्वयं श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है और वे हिन्दी तथा भारत की दूसरी भाषाओं में प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

आचार्य जी ने श्री अरविन्द के विशिष्ट शब्दों के जो हिन्दी समानार्थक इस कोश में दिये हैं वे इस प्रकार के हैं कि जो सुनते ही श्रोता को उनके उन आन्तरिक भावों का आभास करा देते हैं जो मूल ग्रन्थ के बार-बार अध्ययन करने पर भी प्राय: बुद्धिगम्य नहीं होते।

इस कोश के लिए उन्होंने अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी समानार्थक बहुत अध्ययन और परिश्रम के द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्व में से खोज कर निकाले हैं। साथ ही उन्होंने नवीनतम प्रकाशित कोशों और शब्दावलियों से भी सहायता ली है। इस प्रकार इस कोश को वर्तमानकालीन हिन्दीभाषी जनता के लिए सर्वथा उपयुक्त बना दिया है। मुझे यह कहते हुए लेशमात्र

भी संकोच नहीं होता कि हिन्दी भाषा कि निधि की श्रीवृद्धि करने वाला यह एक नवीन रत्न है जिसके लिए श्री आचार्यजी बधाई के पात्र हैं ।

—डा० मंगलदेव शास्त्री
(भू० पू० उपकुलपति,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

पुस्तक लेखक की विद्वत्ता, प्रतिभा और श्री अरविन्द सम्बन्धी ज्ञान और प्रभूत परिश्रम की परिचायक है । श्री अरविन्द के ग्रन्थों को अंग्रेजी में पढ़ने के इच्छुक भारतीय इस पुस्तक से यह अधिक आसानी से जान सकेंगे कि श्री अरविन्द के अमुक शब्द किस भाव को बताने से लिए प्रयुक्त किया है ।

—हिन्दुस्तान

—:o:—

लेखक की अन्य कृतियाँ

(१) दिव्य जीवन प्रथम भाग

(२) ,, द्वितीय भाग प्रथम खण्ड

(३) ,, द्वितीय भाग प्रेस में

(४) गीता नवनीत प्रथम भाग

(५) ,, द्वितीय भाग ५

(६) गीता प्रदीप ४—००

(७) गीता-विज्ञान १२—५०

(८) सत्य का रहस्य ६—५०

(९) कठोपनिषद् १—००

(१०) श्री अरविन्द शब्द-कोश ८—००

(११) Guide Sri Aurobindo's Philosophy ३—५०

(१२) कठोपनिषद्-भाष्य प्रेस में

(१३) श्री अरविन्द दर्शन प्रवेशिका ,,

No /
आत्म

मूल्य—एक रुपया पच्चीस पैसे